Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies,
Online ISSN 2278-8808, SJIF 2018 = 6.371, www.srjis.com
PEER REVIEWED JOURNAL, MAY-JUNE, 2018, VOL- 5/45

रामायण कालीन जीवन मूल्य *'रामायणम्' – राम + अयनम् – राम की जीवन यात्रा*

डॉ. सीमा रानी शर्मा
संस्कृत विभाग, हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद

भारतीय चिन्तन परम्परा में 'मूल्य' वह कसौटी है जिस पर व्यक्ति, परिवार, समाज और राज्य के आचरण को परखा जाता है। संस्कृत वाङ्मय में मूल्य के लिए कोई एक पारिभाषिक शब्द नहीं मिलता, किन्तु धर्म, सत्य, ऋत, शील, सदाचार और मर्यादा जैसे शब्द इसी भाव को व्यक्त करते हैं। महाभारत का कथन है कि जो प्रजा को धारण करे वही धर्म है, "धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः" [1]। मनु ने धर्म के दस लक्षण गिनाए हैं: धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध [2]। इसी मूल्य-चेतना का सर्वाधिक जीवन्त आख्यान वाल्मीकि रामायण है, जिसके आरम्भ में ही महर्षि वाल्मीकि देवर्षि नारद से पूछते हैं कि इस लोक में गुणवान, वीर्यवान, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवाक्य और दृढ़व्रत पुरुष कौन है ("को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥", बाल. 1.2) [3]। प्रस्तुत शोध-आलेख रामायणकालीन जीवन मूल्यों का विवेचन इसी प्रश्न की पृष्ठभूमि में करता है।

रामकथा केवल एक राजपरिवार का वृत्तान्त नहीं रही; सहस्राब्दियों से वह भारतीय उपमहाद्वीप और दक्षिण-पूर्व एशिया की नैतिक कल्पना का आधार रही है [13]। आधुनिक अध्येताओं ने रेखांकित किया है कि इस महाकाव्य की शक्ति उसके नैतिक द्वन्द्वों में निहित है, जहाँ पुत्र और राजा, पति और शासक, भाई और उत्तराधिकारी के कर्तव्य आपस में टकराते हैं [5][6]। फादर कामिल बुल्के ने अपने शोध में दिखाया कि रामकथा का विकास अनेक भाषाओं और संस्कृतियों में मूल्य-संवाद का माध्यम बना [9]। इसलिए यहाँ मूल्यों को केवल उपदेश के रूप में नहीं, बल्कि पात्रों के आचरण में प्रकट होने वाले जीवन्त व्यवहार के रूप में देखा गया है।

इस आलेख का उद्देश्य रामायणकालीन जीवन मूल्यों को स्रोत-आधारित दृष्टि से समझना है। इसके लिए मूल पाठ के रूप में वाल्मीकि-रामायण के गीताप्रेस संस्करण को आधार बनाया गया है, तथा आवश्यकतानुसार समीक्षित पाठ और आधुनिक अनुवादों का सहारा लिया गया है [3][4][5]। तुलनात्मक दृष्टि के लिए तुलसीदास के रामचरितमानस तथा धर्मशास्त्रीय और महाभारतीय सन्दर्भों का उपयोग किया गया है [8][1][2]। शोध का केन्द्रीय प्रश्न यह है कि रामायण में चित्रित मूल्य केवल उपदेश के रूप में हैं या पात्रों के

Copyright © 2018, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

आचरण में भी प्रकट होते हैं, और यदि प्रकट होते हैं तो विषम परिस्थितियों में उनका निर्वाह किस प्रकार होता है। आलेख में मूल्यों का विवेचन व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक और धर्ममूलक स्तरों पर किया गया है, और जहाँ आधुनिक आलोचना ने प्रश्न उठाए हैं, वहाँ उन्हें भी निष्पक्ष रूप से सम्मिलित किया गया है।

भारतीय मूल्य-चिन्तन का मूल ढाँचा पुरुषार्थ-चतुष्टय — धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — के सिद्धान्त में मिलता है, जिसमें अर्थ और काम की साधना को धर्म की मर्यादा के भीतर रखा गया है [10]। रामायण में यह सन्तुलन अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। अयोध्याकाण्ड के कच्चित्-सर्ग में राम भरत से पूछते हैं कि वे धर्म, अर्थ और काम का परस्पर बाधा-रहित सेवन करते हैं या नहीं (अयोध्या. 100) [3]; और अरण्यकाण्ड में यह सूत्र मिलता है कि धर्म से अर्थ और सुख उत्पन्न होते हैं, धर्म से ही सब कुछ प्राप्त होता है और यह जगत् धर्मसार है — "धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्। धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥" (अरण्य. 9.30) [3]। इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकि की दृष्टि में सम्पत्ति और सुख निन्दनीय नहीं हैं, किन्तु उनका आधार धर्म होना चाहिए। यही सन्तुलन राम के चरित्र को अनुकरणीय बनाता है, क्योंकि वे न तो भोग से विमुख होकर कठोर वैराग्य को ही आदर्श बनाते हैं और न भोग को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं।

वाल्मीकि रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने एक आदर्श समाज, राज्य तथा राष्ट्र के निर्माण के लिए उन नैतिक मूल्यों का निर्धारण किया है जिन्हें व्यक्ति अपने जीवन में उतार कर स्वस्थ आदर्शपूर्ण समाज एवं राष्ट्र का निर्माण कर सके। सत्य, प्रेम, करुणा, स्नेह, धर्म, न्याय, शान्ति मानव जीवन के लिए परमावश्यक हैं। असत्य, घृणा, द्वेष, अधर्म, अन्याय, अशान्ति, मानव जीवन के पतन एवं विनाश का कारक हैं। भारतीय संस्कृति त्याग, तपस्या और तपोवन पर आधारित है।

वाल्मीकि की दृष्टि में मूल्य दो ध्रुवों में बँटे दिखाई देते हैं, और यह द्वैत राम तथा रावण के चरित्र-विरोध में सबसे स्पष्ट है। रावण विद्वान, वेदज्ञ और पराक्रमी है, तथापि परस्त्री-हरण, अहंकार और हितैषियों की सलाह की उपेक्षा उसे पतन की ओर ले जाती है; विभीषण का परामर्श न मानना उसके विनाश का एक प्रमुख कारण बनता है (युद्धकाण्ड के आरम्भिक सर्ग) [3]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान और शक्ति अपने आप में मूल्य नहीं हैं; मूल्य वह है जो ज्ञान और शक्ति को दिशा देता है।

1. महर्षि वाल्मीकि का व्यक्तित्व समाज के लिए कई रूपों में प्रेरणा स्रोत है। समाज में जब हृदय परिवर्तन की बात आती है तो सबसे पहले वाल्मीकि को याद किया जाता है। प्रेम में मग्न क्रौंच पक्षी के वध को देखकर उसके दुख से दुखी होकर वाल्मीकि के मुख से स्वतः एक श्लोक फूट पड़ा –

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ (बाल. 2.15) [3]

यह घटना बालकाण्ड के दूसरे सर्ग में आती है। तमसा नदी के तट पर स्नान के लिए गए वाल्मीकि ने जब व्याध के बाण से बिंधे क्रौंच को और उसकी सहचरी के करुण क्रन्दन को देखा, तो उनके हृदय में उपजा शोक छन्दोबद्ध वाणी में प्रकट हो गया। श्लोक का सरल अर्थ है, "हे निषाद, तुझे कभी प्रतिष्ठा न मिले, क्योंकि तूने काम से मोहित क्रौंच जोड़े में से एक का वध कर दिया।" इसके बाद ऋषि स्वयं विचार करते हैं कि शोक से आर्त मेरे मुख से जो पादबद्ध, समान अक्षरों वाली और तन्त्री-लय से युक्त वाणी निकली, वह श्लोक ही कहलाए ("पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः। शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥", बाल. 2.18) [3]। इसी भाव को आगे चलकर आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इन शब्दों में सूत्रबद्ध किया कि क्रौंच-वियोग से उत्पन्न शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हुआ ("शोकः श्लोकत्वमागतः") [16]। तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्य का उद्गम ही करुणा में है, और करुणा रामायणकालीन जीवन मूल्यों का मूल स्वर है।

यह श्लोक संस्कृत भाषा में लौकिक छन्दों में प्रथम अनुष्टुप छंद का श्लोक था इसी छन्द के कारण महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हुए यही श्लोक रामायण का आधार बना। आदि काव्य के रूप में संस्कृत भाषा में रामायण जैसी कृति की रचना उनकी प्रतिभा की देन है, जिसे समाज ने अमूल्य थाती माना। उनके इस ग्रन्थ में 24 हजार श्लोक हैं हर एक हजार श्लोकों के बाद गायत्री मन्त्र का एक अक्षर का सम्पुट लगा हुआ है इसके सात काण्ड हैं इसमें सौ उपाख्यान, पाँच सौ सर्ग हैं। सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से हरेक काण्ड का अपना महत्व है। देखा जाये तो जीवन के विविध आयामों के बारे में वाल्मीकि ने रामायण के विभिन्न पात्रों के चरित्रों को साकार करके समझाया है।

ग्रन्थ के आकार से सम्बन्धित ये कथन परम्परागत वर्णन पर आधारित हैं। बालकाण्ड के चौथे सर्ग में चौबीस हजार श्लोकों, पाँच सौ सर्गों, छह काण्डों और उत्तरकाण्ड का उल्लेख मिलता है ("चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः। तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्॥", बाल. 4.2) [3]। गायत्री के चौबीस अक्षरों के आधार पर प्रत्येक सहस्र श्लोक के आरम्भ में एक अक्षर की मान्यता लोक-परम्परा की देन है। बड़ौदा से प्रकाशित समीक्षित संस्करण में श्लोकों की संख्या इससे कम है, और बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड के अनेक अंशों को परवर्ती माना गया है [4][5]। फिर भी परम्परा में सात काण्डों की समग्र रामकथा ही स्वीकृत है, और उसी का मूल्य-विवेचन यहाँ अभीष्ट है।

महर्षि वाल्मीकि के जीवन के विषय में दो स्तर पृथक् करके देखना उचित होगा। लोक-परम्परा में प्रचलित कथा के अनुसार वे पहले रत्नाकर नामक दस्यु थे, जिनका हृदय-परिवर्तन नारद के उपदेश से हुआ और राम-नाम के जप में लीन होकर वे वाल्मीकि

(वल्मीक अर्थात् दीमक की बाँबी से आच्छादित) कहलाए; यह आख्यान मुख्यतः परवर्ती परम्परा में मिलता है [9]। इसके विपरीत उत्तरकाण्ड में वाल्मीकि स्वयं को प्रचेता का पुत्र बताते हैं [3]। आलोचनात्मक दृष्टि से इस भेद को स्वीकार करते हुए भी यह निर्विवाद है कि 'हृदय-परिवर्तन' का प्रतीक वाल्मीकि के व्यक्तित्व से जुड़कर समाज में आशा का सूत्र बन गया है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपने आचरण को बदलकर ऋषित्व तक पहुँच सकता है। जिस रचनाकार का आरम्भ करुणा से हुआ और जिसकी रचना का मूल सन्देश भी करुणा है, उसके जीवन-आख्यान का परिवर्तन और पुनर्जन्म की भावना से अनुप्राणित होना स्वाभाविक ही है।

2. राम को केन्द्र में रखकर उन्होंने गृहस्थ धर्म, राजधर्म और पुत्रधर्म, भ्रातृ धर्म, प्रजाधर्म का जो खाका खींचा वह विलक्षण है।

इस खाके को काण्डों के क्रम में पढ़ा जाए तो मूल्यों का एक पूरा मानचित्र उभरता है। बालकाण्ड में गुरुकुल-शिक्षा, ऋषि-रक्षा और मर्यादित विवाह-आयोजन का आदर्श है; अयोध्याकाण्ड में पितृ-आज्ञा, भ्रातृ-प्रेम और राज्य-त्याग; अरण्यकाण्ड में वनवासी जीवन, तपस्वियों की सेवा और स्त्री की गरिमा; किष्किन्धाकाण्ड में मित्रता और उसके दायित्व; सुन्दरकाण्ड में निष्ठा, कर्मठता और विवेक; युद्धकाण्ड में धर्मयुद्ध तथा शरणागत-रक्षा; और उत्तरकाण्ड में राजधर्म एवं लोकाराधन की चिन्ता प्रकट होती है [3][7]।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'मूल्यों की जीवन में क्या उपयोगिता है? क्या उन्हें स्वीकार करना आवश्यक है? इस प्रश्न के समाधान में यह कहा जा सकता है कि मूल्यों के बिना जीवन नहीं और जीवन के बिना मूल्यों का औचित्य नहीं। व्यक्ति मूल्यों को इसलिए अपनाता है ताकि उसकी जीवन-रूपी यात्रा सकुशल पूर्ण हो सके। व्यक्ति की आयु के साथ-साथ मूल्यों की आवश्यकता और उपयोगिता भी परिवर्तित होती है। मूल्यों का विश्लेषण करने पर जो बात सामने आती है वह है धर्म। धर्म ही वह मूल्य है जो सभी मूल्यों को सहेज कर रखता है। विषम से विषम परिस्थितियों में भी राम ने मूल्यों को नहीं तोड़ा।

धर्मो हि परमो लोके सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितम्

वाल्मीकि ने सत्य में धर्म को प्रतिष्ठित किया है। इसी भाव की सबसे सुस्पष्ट अभिव्यक्ति अयोध्याकाण्ड के जाबालि-प्रसंग में मिलती है, जहाँ राम सत्य को ही लोक में सर्वोपरि सत्ता घोषित करते हैं — "सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥" (अयोध्या. 109.13) [3]। जाबालि ने जब पिता की आज्ञा और वनवास की प्रतिज्ञा को व्यर्थ बताकर राम को लौट चलने का तर्क दिया, तब राम ने उसे अस्वीकार कर दिया; यह प्रसंग बताता है कि वाल्मीकि के राम के लिए मूल्य सुविधा के अनुसार बदलने वाली वस्तु नहीं, अपितु सोच-समझकर स्वीकार की गई अटल प्रतिबद्धता हैं। इसी प्रकार कैकेयी के समक्ष वनवास का आदेश सुनकर राम का उत्तर था कि वे अर्थपरायण नहीं हैं,

उन्हें ऋषियों के समान केवल धर्म में स्थित जानो ("नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे। विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम्॥", अयोध्या. 19.20) [3], और यह भी कि राम दो बार नहीं बोलता ("रामो द्विर्नाभिभाषते", अयोध्या. 18.30) [3]। विषम परिस्थिति में मूल्य-निर्वाह की यही कसौटी राम को शेष पात्रों से पृथक करती है। महाभारत की यह उक्ति कि धर्म वही है जो प्रजा को धारण करता है [1] रामायण में आचरण के स्तर पर प्रमाणित होती दिखती है।

महाभारत में धर्म को अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है — "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" (वन. 313.117) [19] — और रामायण में यह सूक्ष्मता राम के निर्णयों में दिखाई देती है। जब दशरथ ने कैकेयी को दिए वचन के कारण राम को वनवास देना स्वीकार किया, तब राम के सामने पिता का वचन, माता की इच्छा, राज्य की अपेक्षा और स्वयं का अधिकार, चारों एक साथ उपस्थित थे। उन्होंने बिना विवाद वन-गमन का निर्णय लिया, क्योंकि उनके लिए वचन की रक्षा कुल की प्रतिष्ठा और भविष्य के विश्वास का प्रश्न थी। उपनिषद् का 'सत्यं वद, धर्मं चर' का आदेश (तैत्तिरीय उप. 1.11.1) [15] इसी प्रकार राम के जीवन में कथन से अधिक आचरण के रूप में चरितार्थ होता है। सत्य यहाँ केवल वाणी की यथार्थता नहीं, बल्कि वचन और कर्म की एकता है, और यही एकता समाज में परस्पर विश्वास की नींव बनती है।

'अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा'

इस सूक्ति में क्षमा को आभूषण कहा गया है, और यह मूल्य रामायण में नर और नारी, दोनों के चरित्र में समान रूप से दीप्त है। बालकाण्ड में नारद राम का परिचय देते हुए उन्हें गम्भीरता में समुद्र, धैर्य में हिमालय, क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमा में पृथ्वी के समान बताते हैं ("कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः", बाल. 1.17–18) [3]। सीता का वनगमन, अनसूया का तपस्विनी-धर्म और कौशल्या की सहनशीलता भी इसी क्षमा-मूल्य के विविध रूप हैं। क्षमा दुर्बलता नहीं, सामर्थ्य के साथ संयम का नाम है — और यही संयम मनु-वर्णित धर्म-लक्षणों में 'दम' और 'अक्रोध' के रूप में सूचीबद्ध है [2]।

करुणा का एक और आयाम अहिंसा-विवेक है। अरण्यकाण्ड के नवें सर्ग में सीता राम को सावधान करती हैं कि बिना वैर के शस्त्र के साथ वन में विचरण करने से हिंसा की ओर झुकाव उत्पन्न हो सकता है, और इसलिए बिना कारण राक्षसों से विरोध मोल न लें; राम उनके हित-चिन्तन का आदर करते हुए उत्तर देते हैं कि ऋषियों की रक्षा का वचन वे दे चुके हैं और उसका पालन उनका धर्म है (अरण्य. 9–10) [3]। यह प्रसंग दिखाता है कि वाल्मीकि अहिंसा को निष्क्रियता नहीं मानते; उनकी दृष्टि में अन्याय के सामने मौन रहना भी हिंसा का समर्थन बन सकता है, और बल का प्रयोग तभी धर्मसंगत है जब वह निर्बल की रक्षा के लिए हो।

श्री राम सामाजिक समरसता के प्रतिबिंब हैं अपने जीवन के सबसे कष्टमयी कालखण्ड में श्री राम ने सहयोगी और सलाहकार वनवासियों को ही बनाया जिसमें केवट, निषाद, कौल, भील, किरात और भालू सम्मिलित रहे। राम चाहते तो अयोध्या या जनकपुर से सहायता ले सकते थे परन्तु उनके साथी वह जन बने जिन्हें आज आदिवासी या अतिपिछड़ा कहा जाता है इन सभी को सखा कहा। भील समुदाय की शबरी माता का पिछड़ापन दोहरा है, क्योंकि वह गैर अभिजात वर्ग की स्त्री है।

वाल्मीकि-रामायण में इस समरसता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। श्रृंगवेरपुर में निषादराज गुह से राम की भेंट का वर्णन अयोध्याकाण्ड (सर्ग 50) में है, जहाँ राम उन्हें गले लगाते हैं और अपने प्रिय सखा के रूप में स्वीकार करते हैं [3]; लोक-परम्परा में इसी प्रसंग के साथ केवट की कथा गुँथ गई है, जो विशेषतः तुलसीदास के मानस में विस्तार पाती है [8]। चित्रकूट में भरत अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ राम को लौटा लाने पहुँचते हैं, और राम चाहते तो उस राजकीय सहयोग से पुनः अयोध्या की सत्ता प्राप्त कर सकते थे (अयोध्या. 99–100) [3], परन्तु उन्होंने वनवासी जीवन और वनवासी साथियों का मार्ग चुना। किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान् जैसे वानर-ऋक्ष समुदाय के वीर उनके सहयोगी बनते हैं, और अरण्यकाण्ड में जटायु की अन्त्येष्टि राम उसी विधि से करते हैं जैसे कोई पुत्र पिता की करता है (अरण्य. 68) [3]। शबरी के आश्रम पर वे उसके द्वारा अर्पित फल ग्रहण करते हैं और उसका सम्मान करते हैं (अरण्य. 74) [3]। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वाल्मीकि की शबरी सिद्धा तपस्विनी (श्रमणी) है, जबकि 'मैं अधम नारी हूँ' जैसी आत्म-दीनता का स्वर तुलसीदास के चित्रण में अधिक मुखर है [3][8]। इतिहास-दृष्टि से सावधान पाठक के लिए यह भेद महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह दिखाता है कि समरसता का आदर्श मूल आख्यान में भी है और परवर्ती रचनाओं में उसका भक्ति-भाव से विस्तार भी हुआ है। यह भी स्पष्ट करना उचित है कि उत्तरकाण्ड के शम्बूक-प्रसंग जैसे अंशों पर आधुनिक आलोचकों ने प्रश्न उठाए हैं और अनेक विद्वान उत्तरकाण्ड को परवर्ती जोड़ मानते हैं [4][5]; इसलिए समरसता सम्बन्धी निष्कर्ष मुख्यतः उन प्रसंगों के आधार पर निकाले गए हैं जो मूल कथा के केन्द्र में हैं।

जब भी भारतीय समाज में सामाजिक व पारिवारिक मर्यादा एवं जीवन मूल्यों की बात की जाती है तो रामायण एवं रामायण के पात्रों की ही चर्चा की जाती है। रामायण के पात्रों के माध्यम से जो मानवीय मूल्य रचे उसे दूसरे युगों ने भी अपनाया। उसके बाद हर युग और काल में भगवान राम को लेकर रचनाएं आती रहीं मध्यकाल में तुलसीदास ने वाल्मीकि रामायण से प्रेरित होकर रामचरित मानस की रचना की आज भी जब मानवीय मूल्यों पर संकट आता है तो भारतीय समाज इस रचना को ही अपना प्रकाश स्तम्भ बनाता है।

रामकथा की यह परम्परा केवल संस्कृत और अवधी तक सीमित नहीं रही; तमिल में कम्बन, बांग्ला में कृत्तिवास, असमिया में माधव कन्दली और अनेक अन्य भाषाओं में रामकथा के रूपान्तर हुए, जिन्हें ए. के. रामानुजन ने 'तीन सौ रामायण' की संज्ञा देकर रेखांकित किया [14]। इन सभी में कथा के विवरण बदलते हैं, किन्तु मूल्य-केन्द्र लगभग अपरिवर्तित रहता है। तुलसीदास ने मानस में स्पष्ट घोषणा की — "परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥" (उत्तरकाण्ड) [8] — जो वाल्मीकि की करुणा-दृष्टि का ही लोकभाषा में पुनर्कथन है। इसी प्रकार "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहुँ बरु बचनु न जाई॥" (अयोध्याकाण्ड) [8] वचन-पालन के उसी मूल्य को स्वर देती है, जो वाल्मीकि के 'रामो द्विर्नाभिभाषते' में निहित है।

मूल्य समाज में मानव द्वारा निर्मित कुछ नियमों की श्रृंखला है। समाज में संतुलन कायम रखने के लिए ही मानव द्वारा निर्मित ये मूल्य 'मानवमूल्य' कहलाते हैं। राम का चरित्र पूर्णतः मानवीय गुणों से परिपूर्ण है। 'मर्यादा' के परिप्रेक्ष्य में रामायण-मर्यादा कहने को एक छोटा सा शब्द है किन्तु मानव जीवन का सम्पूर्ण आदर्श इससे जुड़ा हुआ है समाज में संतुलन बनाने के लिए हर रिश्ते की एक मर्यादा निर्धारित की गई है। राम एवं उनके पूरे परिवार ने विचारों एवं व्यवहारों में कहीं भी मर्यादा नहीं तोड़ी इसी कारण राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। माता-पिता, गुरु की बातों को न काटते हुए अपना विचार नहीं रखा और उनकी आज्ञा का पालन किया।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'मर्यादा' का आशय सीमा-रेखा है — वह रेखा जिसके भीतर रहकर सम्बन्ध सुरक्षित और समाज सन्तुलित रहता है। यद्यपि 'मर्यादा पुरुषोत्तम' विशेषण का लोकप्रिय प्रयोग परवर्ती परम्परा में अधिक विकसित हुआ [8][9], वाल्मीकि ने राम के इसी स्वरूप को अरण्यकाण्ड में मारीच के मुख से अत्यन्त सटीक शब्दों में कहलवाया है — "रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः। राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः॥" (अरण्य. 37.13) [3]। जिस शत्रु-पक्ष के पात्र से भी राम के विषय में यह साक्ष्य दिलवाया गया हो, उसकी विश्वसनीयता स्वयं सिद्ध है। राम के लिए मर्यादा बाहर से थोपा हुआ बन्धन नहीं, बल्कि चुना हुआ अनुशासन है, और इसी कारण वह सम्बन्धों को बोझ नहीं, सेतु बना देता है।

आदर्श के परिप्रेक्ष्य में – गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, भाई-भाई, मित्र-मित्र, शत्रु। रामायण इन सभी सम्बन्धों के आदर्श को पात्रों के व्यवहार से मूर्त करती है, और प्रत्येक सम्बन्ध में मर्यादा की एक स्पष्ट रेखा दिखाई देती है।

राम गुरु शुश्रूषया विद्या के सिद्धान्त को अपनाते हैं गुरु की कृपा व आशीर्वाद से ही उन्हें आग्नेय आदि शस्त्रों एवं शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त होता है।

गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे ।
उषस्तां रजनीं तत्र सरय्वां तस्य सुखं प्रभः ॥ बालकाण्ड 23, पृ. 79
सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम् ।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ अयोध्याकाण्ड 30–21

बालकाण्ड में विश्वामित्र यज्ञ-रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को ले जाते हैं और मार्ग में उन्हें 'बला' तथा 'अतिबला' विद्याएँ प्रदान करते हैं (बाल. 22) [3]। प्रातःकाल गुरु का मृदु आह्वान — "कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते। उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥" (बाल. 23.2) [3] — आज भी भारतीय घरों में गूँजता है, और यह इस तथ्य का संकेत है कि राजपुत्र होकर भी राम गुरु के सान्निध्य में अनुशासित जीवन जीते हैं। यह शिक्षा-परम्परा उपनिषद् की उस आज्ञा से मेल खाती है जिसमें कहा गया है — "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव" (तैत्तिरीय उप. 1.11.2) [15]।

पिता-पुत्र – राम पिता की सेवा एवं आज्ञा का पालन अपना धर्म समझते थे –

न ह्यतो धर्माचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ अयोध्याकाण्ड 19.22 [3]

यह कथन राम ने उस क्षण कहा जब राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास का आदेश मिला था। पिता दशरथ स्वयं विवश और शोकग्रस्त थे, फिर भी राम ने उनकी प्रतिज्ञा को अपनी प्रतिज्ञा बना लिया। यहाँ आज्ञा-पालन अन्ध-अनुकरण नहीं है; वह उस विवेक से उपजा है जो जानता है कि वचन टूटने पर परिवार और राज्य, दोनों की नींव हिल जाती है।

माता-पुत्र के सम्बन्ध में भी राम की मर्यादा विलक्षण है। जिस कैकेयी के कारण उन्हें वन जाना पड़ा, उसके प्रति राम के मन में कटुता नहीं मिलती; वनवास से लौटकर वे सभी माताओं को समान आदर से प्रणाम करते हैं (युद्ध. 127) [3]। लक्ष्मण को वन जाते समय सुमित्रा का उपदेश इस सम्बन्ध-मर्यादा का उत्कृष्ट उदाहरण है — "रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्। अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥" (अयोध्या. 40.9) [3], अर्थात् राम को पिता, सीता को माता और वन को अयोध्या समझकर जाओ। माता के इस उपदेश में माता-पुत्र सम्बन्ध का त्याग-भाव अपने चरम पर है।

भरत का स्नेह-त्याग भ्रातृ-सम्बन्धों की सबसे ऊँची कसौटी है। राज्य अनायास हाथ में आ गया था, किन्तु भरत ने उसे अस्वीकार किया, चित्रकूट जाकर राम से लौटने की याचना की, और अन्त में उनकी चरण-पादुकाएँ लेकर नन्दिग्राम में तपस्वी की भाँति रहकर चौदह वर्ष राज्य का संचालन किया (अयोध्या. 82–115) [3]। लक्ष्मण का राम के साथ वन-गमन और शत्रुघ्न की सेवा-निष्ठा इसी भ्रातृ-धर्म को पूर्णता देती है। इसके विपरीत वाली-सुग्रीव तथा रावण-विभीषण के प्रसंग दिखाते हैं कि जहाँ भ्रातृ-मर्यादा टूटती है वहाँ विनाश निश्चित होता है।

आतिथ्य भी रामायणकालीन जीवन-मूल्यों का महत्त्वपूर्ण अंग है। चित्रकूट जाते समय भरत अपनी विशाल सेना के साथ प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम पहुँचते हैं और मुनि अपनी तपःशक्ति से सम्पूर्ण सेना के लिए आतिथ्य का प्रबन्ध करते हैं (अयोध्या. 91) [3]। अत्रि-अनसूया के आश्रम में राम-सीता का सम्मान तथा वनवासी ऋषियों द्वारा उनकी सेवा भी इसी परम्परा के उदाहरण हैं। उपनिषद् ने 'अतिथिदेवो भव' कहकर अतिथि को देवतुल्य माना है [15], और रामायण इस आदेश को कथा में उतार देती है।

पति-पत्नी के सम्बन्ध में रामायण का आदर्श पारस्परिक निष्ठा और सहचर्य है। पति सेवा ही नारी का धर्म है — यह परम्परागत कथन सीता के आचरण में प्रकट होता है, जो राम के साथ वन जाने का आग्रह करते हुए कहती हैं कि जहाँ पति है वहीं स्वर्ग है और पति के बिना नरक (अयोध्या. 27) [3]। अनसूया सीता को पातिव्रत्य का उपदेश देती हैं (अयोध्या. 117) [3]। साथ ही राम का भी एकपत्नीव्रत और सीता-वियोग में उनकी व्याकुलता यह सूचित करती है कि निष्ठा एकतरफा नहीं है। निष्पक्ष विवेचन में यह स्वीकार करना होगा कि अग्नि-परीक्षा (युद्ध. 116) और सीता-परित्याग जैसे प्रसंगों पर आधुनिक आलोचकों ने गम्भीर नैतिक प्रश्न उठाए हैं [5][6]; इन्हें वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत किए गए धर्म-संकट के रूप में समझना अधिक उपयुक्त होगा, जहाँ राजधर्म और पतिधर्म परस्पर टकराते हैं।

रामायण के स्त्री-पात्र केवल सहायक चरित्र नहीं, मूल्य-संवाहक भी हैं। सीता का धैर्य और स्वाभिमान अशोक-वाटिका में उस समय प्रकट होता है जब वे रावण के प्रलोभनों और धमकियों के सामने भी अविचल रहती हैं (सुन्दर. 20–22) [3]। कौशल्या त्याग और ममता की, सुमित्रा विवेक और निर्भयता की, तथा उर्मिला मौन तपस्या की प्रतीक हैं। अहल्या-उद्धार के प्रसंग में राम का आचरण बताता है कि पश्चात्ताप और तप के द्वारा पुनः सम्मान पाया जा सकता है (बाल. 48–49) [3]। इन सभी प्रसंगों का सार यही है कि नारी का सम्मान समाज के नैतिक स्तर की कसौटी है, और रावण का सीता-हरण इसी कारण उसके पतन का निर्णायक कारण बनता है।

स्वामी-सेवक के सम्बन्ध में हनुमान सेवा-भाव और स्वतन्त्र विवेक का अद्‌भुत समन्वय हैं। सुन्दरकाण्ड में उनकी कर्मठता, बुद्धि और विनय सर्वत्र प्रकट होती है। राम भी सेवक को सेवक नहीं, सहयोगी मानते हैं और युद्ध के बाद हनुमान से कहते हैं कि तुम्हारे एक-एक उपकार के बदले मैं प्राण दे दूँ तो भी शेष उपकारों का ऋण बना रहेगा ("एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे", युद्ध. 113) [3]। यहाँ स्वामी की कृतज्ञता सेवक की निष्ठा के समतुल्य है, और यही इस सम्बन्ध को मर्यादित बनाता है।

राजा-प्रजा के सम्बन्ध का सूत्र अयोध्याकाण्ड के 'कच्चित्-सर्ग' (सर्ग 100) में मिलता है, जिसमें राम भरत से पूछते हैं कि क्या वे राज्य के कृषक, वणिक, सैनिक, मन्त्री और न्यायाधीशों के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह कर रहे हैं [3]। वह प्रसंग वस्तुतः प्राचीन

भारतीय शासन-नीति का संक्षिप्त संविधान है, जिसमें राजा को प्रजा का सेवक और संरक्षक माना गया है।

राज-धर्म में न्याय और दण्ड का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। वाली-वध के प्रसंग में राम ने स्पष्ट किया कि छोटे भाई की पत्नी को बलपूर्वक अपने अधिकार में रखना धर्म-विरुद्ध है और उसके लिए दण्ड देना राजा का कर्तव्य है (किष्किन्धा. 18) [3]। वाली का प्रश्न और राम का उत्तर, दोनों रामायण की उस संवाद-परम्परा के उदाहरण हैं जिसमें आचरण को तर्क की कसौटी पर परखा जाता है। इसी प्रकार विभीषण का राज्याभिषेक यह सन्देश देता है कि विजय का उद्देश्य साम्राज्य-विस्तार नहीं, बल्कि धर्म-संस्थापना है; राम ने लंका का राज्य स्वयं न लेकर धर्मनिष्ठ विभीषण को सौंप दिया (युद्ध. 112) [3]। यह उदाहरण आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी विजेता के संयम का आदर्श प्रस्तुत करता है।

मित्र-मित्र के सम्बन्ध में राम-सुग्रीव की मित्रता अग्नि को साक्षी मानकर की गई सन्धि है (किष्किन्धा. 5) [3], जिसमें दोनों एक-दूसरे के सुख-दुःख के सहभागी बनने का वचन देते हैं। यद्यपि वाली-वध के प्रसंग पर वाली के तीखे प्रश्न (किष्किन्धा. 17–18) वाल्मीकि की नैतिक जटिलता को प्रकट करते हैं और बताते हैं कि मूल्यों का निर्वाह सदैव सरल उत्तरों से नहीं होता [5][6], फिर भी मित्र के लिए प्रतिज्ञा निभाने का भाव राम के चरित्र में अटल रहता है।

शत्रु के प्रति भी राम की मर्यादा अटूट है। रावण-वध के पश्चात् जब विभीषण अपने भाई का दाह-संस्कार करने में संकोच करते हैं, तब राम कहते हैं — "मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्। क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥" (युद्ध. 112.26) [3], अर्थात् वैर मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है, यह तुम्हारे जैसा मेरा भी भाई है। शरणागत की रक्षा में तो राम की घोषणा और भी दृढ़ है:

विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः ।
तेनमैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥ सुन्दरकाण्ड 21–12

यह कथन अशोक-वाटिका में सीता रावण से कहती हैं कि राम सर्वधर्मज्ञ और शरणागत-वत्सल हैं, उनसे मित्रता कर लो यदि जीवित रहना चाहते हो [3]। शरणागत-धर्म का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण विभीषण-प्रसंग में मिलता है, जहाँ सुग्रीव आदि के विरोध के बावजूद राम घोषणा करते हैं — "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥" (युद्ध. 18.33) [3]। इसी प्रसंग में राम यह भी कहते हैं:

आर्तो वा यदि वा दीनः शरणं गतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥ (युद्धकाण्ड 18.28 से सम्बद्ध)

अर्थात् शरण में आया हुआ व्यक्ति शत्रु ही क्यों न हो, कृतात्मा पुरुष को प्राणों की बाज़ी लगाकर भी उसकी रक्षा करनी चाहिए [3]। इस कसौटी पर शत्रु के साथ भी मानवीय व्यवहार रामायणकालीन जीवन मूल्यों की चरम उपलब्धि कहा जा सकता है।

अधिकार मिलते ही क्षमता का दुरुपयोग करना वर्तमान समय में मानव की नियति बन चुकी है। राम अयोध्यापति होते हुए भी अपने जीवन में कभी राजधर्म व राजशक्ति का दुरुपयोग नहीं किया। राजधर्म में तो वे एक ऐसा मापदण्ड निर्धारित करते हैं कि आजभी शासक राम राज्य को ही आदर्श लक्ष्य मानते हैं। त्याग एवं बलिदान एवं समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच राम राज्य की पहचान है।

वाल्मीकि ने युद्धकाण्ड के अन्त में राम-राज्य का जो चित्र खींचा है, वह किसी चमत्कार का नहीं, बल्कि सुशासन के परिणामों का वर्णन है: राम के शासन में न विधवाओं का विलाप सुनाई देता था, न हिंसक पशुओं या रोगों का भय रहता था ("न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्। न व्याधिजं भयं वापि रामे राज्यं प्रशासति॥", युद्ध. 128 — सर्ग-संख्या संस्करण-भेद से भिन्न) [3]। तुलसीदास ने इसी आदर्श को लोकभाषा में इस प्रकार स्वर दिया — "दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥ सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥" (उत्तरकाण्ड) [8]। दोनों चित्रों में सुशासन का मापदण्ड यही है कि समाज का अन्तिम व्यक्ति भी भय, अभाव और अन्याय से मुक्त हो। महात्मा गांधी ने रामराज्य को किसी धर्म-विशेष का शासन नहीं, बल्कि नैतिक अनुशासन पर आधारित जनता की सम्प्रभुता के रूप में परिभाषित किया [11], और उनका यह सूत्र कि निर्णय लेते समय सबसे कमज़ोर और निर्धन व्यक्ति का चेहरा याद किया जाए [18], 'समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच' की उसी रामराज्य-कसौटी का आधुनिक रूपान्तर है।

रामकथा की यह मूल्य-परम्परा लोक-जीवन में रामलीला के माध्यम से भी जीवित है। रामलीला की परम्परा को यूनेस्को ने 2008 में मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर की प्रतिनिधि सूची में स्थान दिया [20]। इसके अतिरिक्त थाईलैण्ड की रामकियेन, इण्डोनेशिया की काकविन रामायण तथा कम्बोडिया और म्यांमार की रामकथाएँ यह दर्शाती हैं कि रामायण के मूल्य भौगोलिक सीमाओं से परे जाकर अनेक संस्कृतियों के नैतिक-बोध का हिस्सा बने [13]। यह तथ्य रामायण की सार्वभौमिक अपील को प्रमाणित करता है।

सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में – श्री राम सामाजिक समरसता के प्रतिबिंब हैं; अपने जीवन के सबसे कष्टमयी कालखण्ड में श्री राम ने सहयोगी और सलाहकार वनवासियों को ही बनाया जिसमें केवट, निषाद, कौल, भील, किरात और वानर भालू सम्मिलित रहे। राम चाहते तो अयोध्या या जनकपुर से सहायता ले सकते थे परन्तु उनके साथी वह जन बने जिन्हें आज आदिवासी या अतिपिछड़ा कहा जाता है; राम ने इन सभी को सखा करके सम्बोधित किया।

भील समुदाय की शबरी माता का पिछड़ापन दोहरा है क्योंकि वह गैर अभिजात वर्ग की स्त्री है। वह राम से कहती है कि मैं तो अधम नारी हूँ। इस विनय के उत्तर में तुलसीदास के राम कहते हैं कि मैं केवल भक्ति का नाता मानता हूँ ("मानउँ एक भगति कर नाता", अरण्यकाण्ड) [8], अर्थात् जाति, पाँति, कुल और लिंग के भेद उनके लिए गौण हैं। यह सम्वाद दिखाता है कि रामायणकालीन मूल्य-दृष्टि में सम्बन्ध का आधार जन्म नहीं, भाव और आचरण है।

इस प्रकार रामायण में मूल्यों के कई स्तर पहचाने जा सकते हैं। व्यक्तिगत स्तर पर सत्य, संयम, क्षमा और कृतज्ञता; पारिवारिक स्तर पर पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम और दाम्पत्य-निष्ठा; सामाजिक स्तर पर समरसता, सहभागिता और शरणागत-रक्षा; राजनीतिक स्तर पर प्रजा-हित, अधिकार का संयम और लोकाराधन; और इन सभी के मूल में धर्ममूलक मूल्य, जो अन्य मूल्यों को आधार और दिशा देते हैं [3][10]। इन्हीं को राजनीतिक मूल्य और धर्ममूलक मूल्य के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है, किन्तु वाल्मीकि की विशेषता यह है कि वे इन्हें अलग-अलग खानों में नहीं रखते; एक ही चरित्र में सभी का सहज समन्वय करा देते हैं।

रामायण में प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व का मूल्य भी उल्लेखनीय है। चौदह वर्ष का वनवास वस्तुतः प्रकृति के साथ जीवन का अनुभव है, जहाँ चित्रकूट, पंचवटी और दण्डकारण्य के वर्णन में नदियों, वृक्षों और पशु-पक्षियों के प्रति गहरी संवेदना दिखाई देती है। किष्किन्धाकाण्ड में वर्षा और शरद ऋतु का वर्णन (किष्किन्धा. 28–30) [3] केवल काव्य-सौन्दर्य नहीं, बल्कि प्रकृति-चक्र के साथ मानव-जीवन की एकता का भी बोध कराता है। वानर-भालू जैसे वन्य समुदायों का राम का सहयोगी बनना और जटायु जैसे पक्षी का धर्म के लिए प्राणोत्सर्ग करना दर्शाता है कि वाल्मीकि की नैतिक दृष्टि केवल मानव-समाज तक सीमित नहीं, बल्कि समस्त जीव-जगत् को समेटती है।

वाल्मीकि जी ने रामायण में मानव सभ्यता, समाज और संस्कृतियों के द्वन्द्व के साथ-साथ नैतिक-अनैतिक, सात्विक-असात्विक मानव वृत्तियों के द्वन्द्व को भी दर्शाया है और सम्पूर्ण संसार के लिए जीवन मूल्यों के साथ कैसे जीवन जिया जाये ये भी बतलाया है।

इस द्वन्द्व-दर्शन का महत्त्व इसी में है कि रामायण मूल्यों को सरल और निर्विवाद नहीं दिखाती। राम-रावण के बीच संघर्ष केवल दो व्यक्तियों का नहीं, दो जीवन-दृष्टियों का संघर्ष है: एक ओर संयम, मर्यादा और लोकहित, दूसरी ओर भोग, अहंकार और स्वार्थ। साथ ही सीता-परित्याग और वाली-वध जैसे प्रसंग पाठक को असुविधाजनक प्रश्नों से भी जोड़ते हैं, और अमर्त्य सेन जैसे विचारकों ने भारतीय परम्परा की उस तर्कशील प्रवृत्ति को रेखांकित किया है जो अपने ही आदर्शों से प्रश्न करने का साहस रखती है [12]। इसी कारण रामायण

को किसी एक पाठ का निर्विवाद अनुशासन नहीं, बल्कि निरन्तर चलने वाला नैतिक संवाद मानना अधिक उपयुक्त है।

वर्तमान सन्दर्भ में रामायणकालीन मूल्यों की प्रासंगिकता दो स्तरों पर दिखती है। पहला, आज जब पद और अधिकार का दुरुपयोग सामान्य प्रवृत्ति बनता जा रहा है, तब राम का यह उदाहरण कि शक्ति का उपयोग लोकहित में और संयम के साथ हो, शासन-नैतिकता के लिए मार्गदर्शक है। दूसरा, पारिवारिक विघटन और सम्बन्धों के बिखराव के दौर में प्रत्येक रिश्ते की मर्यादा तय करने का रामायणी विचार सामाजिक सन्तुलन की पुनर्स्थापना का सूत्र देता है। गीता का यह कथन — "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" (3.21) [17] — कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, अन्य जन उसी का अनुकरण करते हैं, राम के जीवन पर पूर्णतः लागू होता है; वे उपदेश देकर नहीं, आचरण करके मूल्य सिखाते हैं।

आज की शिक्षा-व्यवस्था में मूल्य-शिक्षा की आवश्यकता पर विशेष बल दिया जा रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय ज्ञान-परम्परा तथा सत्य, सेवा, अहिंसा और सहानुभूति जैसे मूल्यों को शिक्षा का अंग बनाने की बात करती है [21]। इस सन्दर्भ में रामायण अत्यन्त उपयोगी पाठ्य-स्रोत है, क्योंकि यह मूल्यों को कथा, पात्र और संवाद के माध्यम से सहज रूप में प्रस्तुत करती है। संस्कृत शिक्षण में वाल्मीकि-रामायण के चयनित श्लोकों का अध्ययन विद्यार्थियों को भाषा, साहित्य और नैतिक चिन्तन, तीनों से एक साथ जोड़ सकता है। उचित होगा कि इन मूल्यों को आज्ञा के रूप में नहीं, बल्कि विवेचन और संवाद के रूप में पढ़ाया जाए, ताकि विद्यार्थी स्वयं उनके औचित्य को समझ सकें।

इस अध्ययन की कुछ सीमाएँ भी स्वीकार करनी होंगी। रामायण के अनेक संस्करण और क्षेत्रीय रूपान्तर उपलब्ध हैं, और सर्ग-श्लोक संख्याओं तथा कुछ प्रसंगों की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में मतभेद है [4][5]। इसलिए भविष्य के शोध में समीक्षित पाठ के आधार पर इन्हीं मूल्यों का तुलनात्मक अध्ययन, तथा रामायण और महाभारत की मूल्य-दृष्टि का परस्पर विश्लेषण उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

निष्कर्षतः, रामायणकालीन जीवन मूल्य सत्य, करुणा, क्षमा, त्याग और धर्म के उस समन्वित ढाँचे का नाम हैं जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज और राज्य, चारों की मर्यादाएँ एक-दूसरे को सम्बल देती हैं। आदिकवि की करुणा से जन्मा श्लोक जिस पीड़ा-बोध से आरम्भ हुआ था, वही बोध अन्त में राम-राज्य की उस कल्पना में परिणत हुआ जहाँ किसी को दुःख न हो। यह आलेख इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मूल्य किसी युग-विशेष की वस्तु नहीं, मानव-जीवन की सतत आवश्यकता हैं, और रामायण उनके निर्वाह की सबसे लोकप्रिय तथा विश्वसनीय पाठ्य-परम्परा है।

सन्दर्भ-सूची

व्यास, महाभारत, कर्णपर्व 69.58, गीताप्रेस, गोरखपुर।

मनुस्मृति 6.92 (धर्म के दस लक्षण)।

महर्षि वाल्मीकि, श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिन्दी अनुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।

Bhatt, G. H. and Shah, U. P. (eds.), The Vālmīki-Rāmāyaṇa: Critical Edition, 7 vols., Oriental Institute, Baroda, 1960–1975.

Goldman, Robert P. et al. (trans.), The Rāmāyaṇa of Vālmīki: An Epic of Ancient India, Vols. I–VII, Princeton University Press, 1984–2017.

Pollock, Sheldon I. (trans.), The Rāmāyaṇa of Vālmīki, Vol. II: Ayodhyākāṇḍa, Princeton University Press, 1986.

Pollock, Sheldon (1993), "Rāmāyaṇa and the Political Imagination in India", Journal of Asian Studies, 52(2): 261–297.

तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर।

बुल्के, कामिल, रामकथा: उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, 1950।

Kane, P. V., History of Dharmaśāstra, Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune.

Gandhi, M. K., Young India, 19 September 1929 (रामराज्य सम्बन्धी लेख)।

Sen, Amartya, The Argumentative Indian: Writings on Indian History, Culture and Identity, Allen Lane, 2005.

Raghavan, V. (ed.), The Ramayana Tradition in Asia, Sahitya Akademi, New Delhi, 1980.

Ramanujan, A. K., "Three Hundred Rāmāyaṇas: Five Examples and Three Thoughts on Translation", in Paula Richman (ed.), Many Rāmāyaṇas, University of California Press, 1991.

तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षावल्ली 1.11.1–2।

आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 1.5।

श्रीमद्भगवद्गीता 3.21।

Pyarelal, Mahatma Gandhi: The Last Phase, Vol. II, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1958.

व्यास, महाभारत, वनपर्व 313.117 (यक्ष-प्रश्न प्रसंग), गीताप्रेस, गोरखपुर।

UNESCO, "Ramlila, the traditional performance of the Ramayana", Representative List of the Intangible Cultural Heritage of Humanity, 2008.

भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, नई दिल्ली।